जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान

- प्रो. सागरमल जैन

यह सत्य है कि आधुनिक विज्ञान की प्रगति के परिणामस्वरूप विभिन्न धर्मों और दर्शनों की लोक के स्वरूप एवं सृष्टि सम्बन्धी तथा खगोल-भूगोल सम्बन्धी अनेक प्राचीन मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह लग गये हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि कुछ प्रबुद्ध जनों ने वैज्ञानिक मान्यताओं को चरम सत्य स्वीकार करके विविध धर्मों की परम्परागत मान्यताओं को काल्पनिक एवं अप्रामाणिक बताना प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप अनेक धर्मानुयायिओं की श्रद्धा को ठेस पहुँची और आप्त पुरूषों के वचन या सर्वज्ञ के कथन में अथवा आगमों के आप्तप्रणीत होने में उन्हें सन्देह होने लगा। इस सम्बन्ध में अनेक पत्र-पत्रिकाओं में गवेषणापरक लेखों के माध्यम से पर्याप्त उहा-पोह भी हुआ और दोनों पक्षों ने अपनी बात को युक्तिसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया। विशेष रूप से यह बात तब अधिक विवादास्पद विषय बन गई, जब पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा की सफल यात्रा कर ली और उस सम्बन्ध में अनेक ऐसे ठोस प्रमाण प्रस्तुत कर दिए, जो विभिन्न धर्मों की खगोल-भूगोल सम्बन्धी मान्यताओं के विरोध में जाते हैं।

यह सत्य है कि विज्ञान के माध्यम से धर्म के क्षेत्र में अन्धविश्वास एवं मिथ्या धारणायें समाप्त हुई हैं, किन्तु जो लोग वैज्ञानिक निष्कर्षों को चरम सत्य मानकर धर्म व दर्शन के निष्कर्षों पर और उनकी उपयोगिता पर चिह्न लगा रहे हैं वे भी किसी भ्रान्ति में हैं। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि कालक्रम में पूर्ववर्ती अनेक वैज्ञानिक धारणायें अवैज्ञानिक बन चुकी है। न तो विज्ञान और न प्रबुद्ध वैज्ञानिक इस बात का दावा करते है कि हमारे जो निष्कर्ष है वे अन्तिम सत्य है। जैसे-जैसे वैज्ञानिक ज्ञान में प्रगति हो रही है वैसे-वैसे वैज्ञानिकों की ही पूर्व स्थापित मान्यताएँ निरस्त होकर नवीन-नवीन निष्कर्ष एवं मान्यताएँ सामने आ रही हैं। अतः आज न तो विज्ञान से भयभीत होने की आवश्यकता है और न पूर्ववर्ती मान्यताओं को पूर्णतः निरर्थक या काल्पनिक कहकर अस्वीकार कर देने में कोई औचित्य है। उचित यही है कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जो मान्यताएं निर्विवाद रूप से विज्ञान सम्मत सिद्ध हो रही हैं, उन्हें स्वीकार कर लिया जाय, शेष को भावी वैज्ञानिक परीक्षणों के लिए परिकल्पना के रूप में मान्य किया जाय। क्योंकि धर्मग्रन्थों मे उल्लेखित जो घटनाएं एवं मान्यताएं कुछ वर्षों पूर्व तक कपोल-कल्पित लगती थी वे आज विज्ञान सम्मत सिद्ध हो रही है। सौ वर्ष पूर्व धर्मग्रन्थों में उल्लेखित आकाशगामी विमानों की बात अथवा दूरस्थ ध्वनियों को सुनपाने और दूरस्थ घटनाओं को देख पाने की बात काल्पनिक लगती थी, किन्तु आज वे यथार्थ बन चुकी है।

जैनधर्म की ही ऐसी अनेक मान्यतायें हैं, जो कुछ वर्षों पूर्व तक अवैज्ञानिक व पूर्णतः काल्पनिक लगती थी, आज विज्ञान से प्रमाणित हो रही है। उदाहरण के रूप में – प्रकाश, अन्धकार, ताप, छाया और शब्द आदि पौद्गलिक है – जैन आगमों की इस मान्यता पर कोई विश्वास नहीं करता था, किन्तु आज उनकी पौद्गलिकता सिद्ध हो चुकी है। जैन आगमों का यह कथन है कि शब्द न केवल पौद्गलिक है, अपितु वह ध्वनि रूप में उच्चरित होकर लोकान्त तक की यात्रा करता है, इस तथ्य को कल तक कोई भी स्वीकार नहीं करता था, किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने अब इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक ध्वनि उच्चरित होने के बाद अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देती है और उसकी यह यात्रा, चाहे अत्यन्त क्षीण रूप में ही क्यों न हो, लोकान्त तक होती है। जैनों की केवलज्ञान सम्बन्धी यह अवधारणा कि केवली या सर्वज्ञ समस्त लोक के पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष रूप से जानता है अथवा अवधिज्ञान सम्बन्धी यह अवधारणा कि अवधिज्ञानी चर्म-चक्षु के द्वारा ग्रहीत नहीं हो रहे दूरस्थ विषयों का सीधा प्रत्यक्षीकरण कर लेता है -- कुछ वर्षों पूर्व तक यह सब कपोलकल्पना ही लगती थी, किन्तु आज जब टेलीविजन का आविष्कार हो चुका है, यह बात बहुत आश्चर्यजनक नहीं रही है। जिस प्रकार से ध्वनि की यात्रा होती है उसी प्रकार से प्रत्येक भौतिक पिण्ड से प्रकाश-किरणें परावर्तित होती है और वे भी ध्वनि के समान ही लोक में अपनी यात्रा करती है तथा प्रत्येक वस्तु या घटना का चित्र विश्व में संप्रेषित कर देती है। आज यदि मानव मस्तिष्क में टेलीविजन सेट की ही तरह चित्रों को ग्रहण करने कि सामर्थ्य विकसित हो जायें, तो दूरस्थ पदार्थों एवं घटनाओं के हस्तामलकवत् ज्ञान में कोई बाधा नहीं रहेगी, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ से प्रकाश व छाया के रूप में जो किरणों परावर्तित हो रही है, वे तो हम सबके पास पहुंच ही रही है। आज यदि हमारे चैतन्य मस्तिष्क की ग्रहण सामर्थ्य विकसित हो जाय, तो दूरस्थ विषयों का ज्ञान असम्भव नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन धार्मिक कहे जाने वाले साहित्य में भी बहुत कुछ ऐसा है, जो या तो आज विज्ञान सम्मत सिद्ध हो चुका है अथवा जिसके विज्ञान सम्मत सिद्ध होने की सम्भावना अभी पूर्णतः निरस्त नहीं हुई है।

अनेक आगम वचन या सूत्र ऐसे है, जो कल तक अवैज्ञानिक प्रतीत होते थे, वे आज वैज्ञानिक सिद्ध हो रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं, इन सूत्रों की वैज्ञानिक ज्ञान उनके प्रकाश में है जो व्याख्या की गयी, वह अधिक समीचीन प्रतीत होती है। उदाहरण के रूप में परमाणुओं के पारस्परिक बन्धन से स्कन्ध के निर्माण की प्रक्रिया को समझाने हेतु तत्त्वार्थ सूत्र के पाँचवें अध्याय का एक सूत्र आता है-- स्निग्धरूक्षत्वात् बन्धः। इसमें स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओं के एक दूसरे से जुड़कर स्कन्ध बनाने की बात कही गयी है। सामान्य रूप से इसकी व्याख्या यह कहकर ही की जाती थी, कि स्निग्ध (चिकने) एवं रुक्ष (खुरदुरे) परमाणुओं में बन्ध होता है, किन्तु आज जब हम इस सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं कि स्निग्ध अर्थात् धनात्मक विद्युत से आवेशित एवं रुक्ष अर्थात् ऋणात्मक विद्युत से आवेशित सूक्ष्म-कण-जैन दर्शन की भाषा में परमाणु-परस्पर मिलकर स्कन्ध (Molecule) का निर्माण करते हों, तो तत्त्वार्थसूत्र का यह सूत्र अधिक विज्ञान सम्मत प्रतीत होता है। इसी प्रकार आचारांग सूत्र में वानस्पतिक जीवन की

प्राणीय जीवन से जो तुलना की गई है, वह आज अधिक विज्ञान सम्मत सिद्ध हो रही है। आचारांग का यह कथन कि वानस्पतिक-जगत् में उसी प्रकार की संवेदनशीलता है जैसी प्राणी-जगत में -- इस तथ्य को सामान्यतया पाश्चात्य वैज्ञानिकों की आधुनिक खोजों के पूर्व सत्य नही माना जाता था, किन्तु सर जगदीशचन्द बसु और अन्य जैव-वैज्ञानिकों ने अब इस तथ्य की पुष्टि कर दी है कि वनस्पति में भी प्राणी जगत् की ही तरह ही संवेदनशीलता है। अतः आज आचारांग का कथन विज्ञान सम्मत सिद्ध होता है।

हमें यह बात ध्यान में रखना है कि न तो विज्ञान धर्म का शत्रु है और न धार्मिक आस्थाओं को खण्डित ही करना ही उसका उद्देश्य है, वह जिसे खण्डित करता है वे हमारे तथाकथित धार्मिक अन्धविश्वास होते हैं। साथ ही हमें यह भी समझना चाहिये कि वैज्ञानिक खोजों के परिणामस्वरूप अनेक धार्मिक अवधारणायें पुष्ट ही हुई हैं। अनेक धार्मिक आचार-नियम जो केवल हमारी शास्त्र के प्रति श्रद्धा के बल पर टिके थे, अब उनकी वैज्ञानिक उपयोगिता सिद्ध हो रही है।

जैन परम्परा में रात्रि-भोजन का निषेध एक सामान्य नियम है, चाहे परम्परागत रूप में रात्रि-भोजन के साथ हिंसा की बात जुड़ी हो, किन्तु आज रात्रि भोजन का निषेध मात्र हिंसा-अहिंसा के आधार पर स्थित न होकर जीव-विज्ञान, चिकित्साशास्त्र और आहारशास्त्र की दृष्टि से अधिक विज्ञान सम्मत सिद्ध हो रहा है। सूर्य के प्रकाश में, भोजन के विषाणुओं को नष्ट करने की तथा शरीर में भोजन को पचाने की जो सामर्थ्य होती है, वह रात्रि के अन्धकार में नहीं होती -- यह बात अब विज्ञान सम्मत सिद्ध हो चुकी है। इसी प्रकार सूर्यास्त के बाद भोजन चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से भी अनुचित माना जाने लगा है। चिकित्सकों ने बताया है कि रात्रि में भोजन के बाद अपेक्षित मात्रा में पानी न ग्रहण करने से भोजन का परिपाक सम्यक् रूप से नहीं होता है। यदि व्यक्ति जल की सम्यक् मात्रा का ग्रहण करने का प्रयास करता है, तो उसे बार-बार मूत्र-त्याग के लिए उठना होता है, फलस्वरूप निद्रा भंग होती है। नींद पूरी न होने के कारण वह सुबह देरी से उठता है और इस प्रकार न केवल उसकी प्रातःकालीन दिनचर्या अस्त-व्यस्त होती है, अपितु वह अपने शरीर को भी अनेक विकृतियों का घर बना लेता है।

जैनों में सामान्य रूप से अवधारणा थी कि वे अन्नकण जो अंकुरित हो रहे हैं अथवा किसी वृक्ष आदि का वह हिस्सा जहाँ अंकुरण हो रहा है, वे अनन्तकाय है और अनन्तकाय का भक्षण अधिक पापकारी है। आज तक यह एक साधारण सिद्धान्त लगता था, किन्तु आज वैज्ञानिक गवेषणा के आधार पर यह सिद्ध हो रहा है कि जहाँ भी जीवन के विकास की सम्भावनाएं हैं, उसके भक्षण या हिंसा से अनन्त जीवों की हिंसा होती है। क्योंकि जीवन के विकास की वह प्रक्रिया कितने जीवों को जन्म देगी यह बता पाना भी सम्भव नहीं है, यदि हम उसकी हिंसा करते हैं तो जीवन की जो नवीन सतत् धारा चलने वाली थी, उसे ही हम बीच में अवरुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार अनन्त जीवन के विनाश के कर्त्ता सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार मानव का स्वाभाविक आहार शाकाहार है, मांसाहार एवं अण्डे आदि के सेवन

से कौन से रोगों की उत्पत्ति होती है आदि तथ्यों की प्रामाणिक जानकारी आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के द्वारा ही सम्भव हुई है। आज वैज्ञानिकों और चिकित्साशास्त्रियों ने अपनी खोजों के माध्यम से मांसाहार के दोषों की जो विस्तृत विवेचनाएं की है, वे सब जैन आचारशास्त्र कितना वैज्ञानिक है, इसकी ही पुष्टि करते हैं।

इसी प्रकार पर्यावरण की शुद्धि के लिए जैन परम्परा में वनस्पति, जल आदि के अनावश्यक दोहन पर जो प्रतिबन्ध लगाया गया है, वह आज कितना सार्थक है यह बात आज हम बिना वैज्ञानिक खोजों के नहीं समझ सकते। पर्यावरण के महत्व के लिए और उसे दूषित होने से बचाने के लिए जैन आचारशास्त्र की भूमिका कितनी महत्वपूर्ण है इसकी पुष्टि आज वैज्ञानिक खोजों के माध्यम से ही सम्भव हो सकी है। आज वैज्ञानिक ज्ञान के परिणामस्वरूप हम धार्मिक आचार सम्बन्धी अनेक मान्यताओं का सम्यक् मूल्यांकन कर सकते हैं और इस प्रकार विज्ञान की खोज धर्म के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। जैन धर्म एवं दर्शन की जो बातें कल तक अवैज्ञानिक सी लगती थीं, आज वैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप सत्य सिद्ध हो रही हैं। अतः विज्ञान को धर्म व दर्शन का विरोधी न मानकर उसका सम्पूरक ही मानना होगा। आज जब हम जैन तत्त्वमीमांसा, जैवविज्ञान और आचारशास्त्र की आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के परिप्रेक्ष्य में समीक्षा करते हैं, तो हम यही पाते हैं कि विज्ञान ने जैन अवधारणाओं की पुष्टि ही की है।

वैज्ञानिक खोजों के परिणाम स्वरूप जो सर्वाधिक प्रश्न चिन्ह लगे हैं वे जैन धर्म की खगोल व भूगोल सम्बन्धी मान्यताओं पर है। यह सत्य है कि खगोल व भूगोल सम्बन्धी जैन अवधारणायें आज के वैज्ञानिक खोजों से भिन्न पड़ती हैं और आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में उनका समीकरण बैठा पाना भी कठिन है। यहाँ सबसे पहला प्रश्न यह है कि क्या जैन खगोल व भूगोल सर्वज्ञ प्रणीत है या सर्वज्ञ की वाणी है ? इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार की आवश्यकता है।

सर्वप्रथम तो हमें जान लेना चाहिए कि जैन खगोल व भूगोल संबंधी विवरण स्थानांग, समवायांग एवं भगवती को छोड़ कर अन्य अंग आगमों में कहीं भी उल्लिखित नहीं है। स्थानांग और समवायांग में भी वे सुव्यवस्थित रूप में प्रतिपादित नहीं है, मात्र संख्या के संदर्भ क्रम में उनकी सम्बन्धित संख्याओं का उल्लेख कर दिया गया है। वैसे भी जहाँ तक विद्वानों का प्रश्न है, वे इन्हें संकलनात्मक एवं अपेक्षाकृत परवर्ती ग्रन्थ मानते हैं। साथ ही यह भी मानते हैं कि इनमें समय-समय पर सामग्री प्रक्षिप्त होती रही है, अतः उनका वर्तमान स्वरूप पूर्णतः जिन प्रणीत नहीं कहा जा सकता है। जैन खगोल व भूगोल सम्बन्धी जो अवधारणायें उपलब्ध हैं, उनका आगमिक आधार चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति एवं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति है, जिन्हें वर्तमान में उपांग के रूप में मान्य किया जाता है, किन्तु नन्दीसूत्र की सूची के अनुसार ये ग्रन्थ आवश्यक व्यतिरिक्त अंग बाह्य आगमों में परिगणित किये जाते हैं। परम्परागत दृष्टि से अंग बाह्य आगमों के उपदेष्टा एवं रचयिता जिन न होकर स्थविर ही माने गये हैं और इससे यह फलित होता है कि ये ग्रन्थ सर्वज्ञ प्रणीत न होकर छद्मस्थ जैन आचार्यों द्वारा प्रणीत हैं। अतः यदि

इनमें प्रतिपादित तथ्य आधुनिक विज्ञान के प्रतिकूल जाते है, तो उससे सर्वज्ञ की सर्वज्ञता पर आँच नहीं आती है। हमें इस भय का परित्याग कर देना चाहिए कि यदि हम खगोल एवं भूगोल के सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिक गवेषणाओं को मान्य करेंगे तो उससे जिन की सर्वज्ञता पर कोई आँच आयेगी। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि सर्वज्ञ या जिन केवल उपदेश देते हैं ग्रन्थ लेखन का कार्य तो उनके गणधर या अन्य स्थविर आचार्य ही करते हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सर्वज्ञ के लिए उपदेश का विषय तो अध्यात्म व आचारशास्त्र ही होता है खगोल व भूगोल उनके मूल प्रतिपाद्य नहीं है। खगोल व भूगोल सम्बन्धी जो अवधारणायें जैन परम्परा में मिलती हैं वह थोड़े अन्तर के साथ समकालिक बौद्ध एवं हिन्दू परम्परा में भी पायी जाती है। अतः यह मानना ही उचित होगा कि खगोल एवं भूगोल सम्बन्धी जैन मान्यताएँ आज यदि विज्ञान सम्मत सिद्ध नहीं होती है तो उससे न तो सर्वज्ञ की सर्वज्ञता पर आँच आती है और न जैन धर्म की आध्यात्मशास्त्रीय, तत्वमीमांसीय एवं आचारशास्त्रीय अवधारणाओं पर कोई खरोंच आती है। सूर्यप्रज्ञप्ति जैसा ग्रन्थ जिसमें जैन आचारशास्त्र और उसकी अहिंसक निष्ठा के विरुद्ध प्रतिपादन पाये जाते हैं, किसी भी स्थिति में सर्वज्ञ प्रणीत नहीं माना जा सकता है। जो लोग खगोल-भूगोल सम्बन्धी वैज्ञानिक तथ्यों को केवल इसलिए स्वीकार करने से कतराते हैं कि इससे सर्वज्ञ की अवहेलना होगी, वे वस्तुतः जैन आध्यात्मशास्त्र के रहस्यों से या तो अनभिज्ञ हैं या उनकी अनुभूति से रहित है। क्योंकि हमें सर्वप्रथम तो यह स्मरण रखना होगा कि जो आत्म-द्रष्टा सर्वज्ञ प्रणीत है ही नहीं उसके अमान्य होने से सर्वज्ञ की सर्वज्ञता कैसे खण्डित हो सकती है ? आचार्य कुन्द-कुन्द ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि सर्वज्ञ आत्मा को जानता है, यही यर्थाथ सत्य है। सर्वज्ञ बाह्य जगत् को जानता है यह केवल व्यवहार है। भगवतीसूत्र का यह कथन भी कि 'केवली सिय जाणइ सिय ण जाणइ' -- इस सत्य को उद्घाटित करता है कि सर्वज्ञ आत्म-द्रष्टा होता है। वस्तुतः सर्वज्ञ का उपदेश भी आत्मानुभूति और आत्म विशुद्धि के लिए होता है जिन साधनों से हम शुद्धात्मा की अनुभूति कर सके, आत्म-शुद्धि या आत्म विमुक्ति को उपलब्ध कर सके, वही सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपाद्य है।

यह सत्य है कि आगमों के रूप में हमारे पास जो कुछ उपलब्ध है,उसमें जिन वचन भी संकलित है और यह भी सत्य है कि आगमों का और उनमें उपलब्ध सामग्री का जैनधर्म, प्राकृत साहित्य और भारतीय इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्त्व है। फिर भी हमें यह स्मरण रखना होगा कि आगमों के नाम पर हमारे पास जो कुछ उपलब्ध है, उसमें पर्याप्त विस्मरण, परिवर्तन, परिवर्धन और प्रक्षेपण भी हुआ है। अतः इस तथ्य को स्वयं अन्तिम वाचनाकार देवर्द्धि ने भी स्वीकार किया है। अतः आगम वचनों में कितना अंश जिन वचन है -- इस सम्बन्ध में पर्याप्त समीक्षा, सर्तकता और सावधानी आवश्यक है।

आज दो प्रकार की अतियाँ देखने में आती है - एक अति यह है कि चाहे पन्द्रहवीं शती के लेखक ने महावीर-गौतम के संवाद के रूप में किसी ग्रन्थ की रचना की हो, उसे भी बिना समीक्षा के जिन वचन के रूप में मान्य किया जा रहा है और उसे ही चरम सत्य माना जाता है-- दूसरी ओर सम्पूर्ण आगम साहित्य को अन्धविश्वास कहकर नकारा जा रहा है। आज आवश्यकता है नीर-क्षीर बुद्धि से आगम वचनों की समीक्षा करके मध्यम मार्ग अपनाने की।

आज न तो विज्ञान ही चरम सत्य है और न आगम के नाम पर जो कुछ है वही चरम सत्य है। आज न तो आगमों को नकारने से कुछ होगा और न वैज्ञानिक सत्यों को नकारने से। विज्ञान और आगम के सन्दर्भ में आज एक तटस्थ समीक्षक बुद्धि की आवश्यकता है।

जैन सृष्टिशास्त्र और जैन खगोल-भूगोल में भी, जहाँ तक सृष्टिशास्त्र का सम्बन्ध है, वह आधुनिक वैज्ञानिक अवधारणाओं के साथ एक सीमा तक संगति रखता है। जैन सृष्टिशास्त्र के अनुसार सर्वप्रथम इस जगत् को अनादि और अनन्त माना गया है, किन्तु उसमें जगत की अनादि अनन्तता उसके प्रवाह की दृष्टि से है। इसे अनादि अनन्त इसलिए कहा जाता है कि कोई भी काल ऐसा नहीं था जब सृष्टि नहीं थी या नहीं होगी। प्रवाह की दृष्टि से जगत् अनादि-अनन्त होते हुए भी इसमें प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश अर्थात् सृष्टि और प्रलय का क्रम भी चलता रहता है, दूसरे शब्दों में यह जगत् अपने प्रवाह की अपेक्षा से शाश्वत होते हुए भी इसमें सृष्टि एवं प्रलय होते रहते हैं क्योंकि जो भी उत्पन्न होता है उसका विनाश अपरिहार्य है। फिर भी इसका सृष्टा या कर्ता कोई भी नहीं है। यह सब प्राकृतिक नियम से ही शासित है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से इस पर विचार करे तो विज्ञान को भी इस तथ्य को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है कि यह विश्व अपने मूल तत्त्व या मूल घटक की दृष्टि से अनादि-अनन्त होते हुए भी इसमें सृजन और विनाश की प्रक्रिया सतत् रूप से चल रही है। यहाँ तक विज्ञान व जैनदर्शन दोनों साथ जाते हैं। दोनों इस संबंध में भी एक मत हैं कि जगत् का कोई सृष्टा नहीं है और यह प्राकृतिक नियम से शासित है। साथ ही अनन्त विश्व में सृष्टि लोक की सीमितता जैन दर्शन एवं विज्ञान दोनों को मान्य है। इन मूल-भूत अवधारणाओं में साम्यता के होते हुए भी जब हम इनके विस्तार में जाते हैं, तो हमें जैन आगमिक मान्यताओं एवं आधुनिक विज्ञान दोनों में पर्याप्त अन्तर भी प्रतीत होता है।

अधोलोक, मध्यलोक एवं स्वर्गलोक की कल्पना लगभग सभी धर्म-दर्शनों में उपलब्ध होती है, किन्तु आधुनिक विज्ञान के द्वारा खगोल का जो विवरण प्रस्तुत किया जाता है, उसमें इस प्रकार की कोई कल्पना नहीं है। वह यह भी नहीं मानता है कि पृथ्वी के नीचे नरक व ऊपर स्वर्ग है। आधुनिक खगोल विज्ञान के अनुसार इस विश्व में असंख्य सौर मण्डल हैं और प्रत्येक सौर मण्डल में अनेक ग्रह-नक्षत्र व पृथ्वियां है। असंख्य सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र की अवधारणा जैन परम्परा में भी मान्य है। यद्यपि आज तक विज्ञान यह सिद्ध नहीं कर पाया है कि पृथ्वी के अतिरिक्त किन ग्रह-नक्षत्रों पर जीवन पाया जाता है, किन्तु उसने इस संभावना से भी इन्कार नहीं किया कि इस ब्रह्माण्ड में अनेक ऐसे ग्रह-नक्षत्र हो सकते है जहाँ जीवन की संभावनाएं हैं। अतः इस विश्व में जीवन केवल पृथ्वी पर है यह भी चरम सत्य नहीं है। पृथ्वी के अतिरिक्त कुछ ग्रह-नक्षत्रों पर जीवन की संभावनाएं हो सकती है। यह भी संभव है कि पृथ्वी की अपेक्षा कहीं जीवन अधिक सुखद एवं समृद्ध हो और कहीं वह विपन्न और कष्टकर स्थिति में हो। अतः चाहे स्वर्ग एवं नरक और खगोल एवं भूगोल सम्बन्धी हमारी अवधारणाओं पर वैज्ञानिक खोजों के परिणाम स्वरूप प्रश्न चिन्ह लगे, किन्तु इस पृथ्वी के अतिरिक्त इस विश्व में कहीं भी जीवन की संभावना नही है, यह बात तो स्वयं वैज्ञानिक भी नहीं कहते हैं। पृथ्वी के

अतिरिक्त ब्रह्माण्ड के अन्य ग्रह-नक्षत्रों पर जीवन की सम्भावनाओं को स्वीकार करने के साथ ही प्रकारान्तर से स्वर्ग एवं नरक की अवधारणायें भी स्थान पा जाती है। उड़न तश्तरियों से सम्बन्धी जो भी खोजे हुई हैं, उसमे इतना तो निश्चित सिद्ध ही होता है कि इस पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य ग्रह-नक्षत्रों पर भी जीवन है और वह पृथ्वी से अपना सम्पर्क बनाने के लिए प्रयत्नशील भी है। उड़न-तश्तरियों के प्राणियों का यहाँ आना व स्वर्ग से देव लोगों की आने की परम्परागत कथा में कोई बहुत अन्तर नहीं है। अतः जो परलोक सम्बन्धी अवधारणा उपलब्ध होती है वह अभी पूर्णतया निरस्त नहीं की जा सकती, हो सकता है कि वैज्ञानिक खोजों के परिणाम स्वरूप ही एक दिन पुनर्जन्म व लोकोत्तर जीवन की कल्पनाएं यथार्थ सिद्ध हो सकें।

जैन परम्परा में लोक को षड्द्रव्यमय कहा गया है। ये षड्द्रव्य निम्न हैं - जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल एवं काल। इनमें से जीव (आत्मा), धर्म, अधर्म, आकाश व पुद्गल ये पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं। इन्हें अस्तिकाय कहने का तात्पर्य यह है कि ये प्रसरित है। दूसरे शब्दों में जिसका आकाश में विस्तार होता है वह अस्तिकाय कहलाता है। षड्द्रव्यों में मात्र काल को अनस्तिकाय कहा गया है, क्योंकि इसका प्रसार बहुआयामी न होकर एक रेखीय है। यहाँ हम सर्वप्रथम तो यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि षड्द्रव्यों की जो अवधारणा है वह किस सीमा तक आधुनिक विज्ञान के साथ संगति रखती है।

षड्द्रव्यों में सर्वप्रथम हम जीव के सन्दर्भ में विचार करेंगे। चाहे विज्ञान आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार न करता हो, किन्तु वह जीवन के अस्तित्व से इंकार भी नहीं करता है, क्योंकि जीवन की उपस्थिति एक अनुभूत तथ्य है। चाहे विज्ञान एक अमर आत्मा की कल्पना को स्वीकार नहीं करे, लेकिन वह जीवन एवं उसके विविध रुपों से इंकार नहीं कर सकता है। जीव-विज्ञान का आधार ही जीवन के अस्तित्व की स्वीकृति पर अवस्थित है। मात्र इतना ही नहीं, अब वैज्ञानिकों ने अतीन्द्रिय ज्ञान तथा पुनर्जन्म के सन्दर्भ में भी अपनी शोध यात्रा प्रारम्भ कर दी है। विचार सम्प्रेषण या टेलीपेथी का सिद्धान्त अब वैज्ञानिकों की रुचि का विषय बनता जा रहा है और इस सम्बन्ध में हुई खोजों के परिणाम अतीन्द्रिय-ज्ञान की सम्भावना को पुष्ट करते हैं। इसी प्रकार पुनर्जन्म की अवधारणा के सन्दर्भ में भी अनेक खोजें हुई हैं। अब अनेक ऐसे तथ्य प्रकाश में आये हैं, जिनकी व्याख्याएँ बिना पुनर्जन्म एवं अतीन्द्रिय ज्ञान-शक्ति को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं है। अब विज्ञान जीवन धारा की निरन्तरता उसकी अतीन्द्रिय शक्तियों से अपरिचित नहीं है, चाहे अभी वह उनकी वैज्ञानिक व्याख्याएँ प्रस्तुत न कर पाया हो। मात्र इतना ही नहीं अनेक प्राणियों में मानव की अपेक्षा भी अनेक क्षेत्रों में इतनी अधिक ऐन्द्रिक-ज्ञान सामर्थ्य होती है जिस पर सामान्य बुद्धि विश्वास नहीं करती है, किन्तु उसे अब आधुनिक विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है। अतः इस विश्व में जीवन का अस्तित्व है और वह जीवन अनन्त शक्तियों का पुंज है - इस तथ्य से अब वैज्ञानिकों का विरोध नहीं है।

जहाँ तक भौतिक तत्व के अस्तित्व एवं स्वरूप का प्रश्न है वैज्ञानिकों एवं जैन आचार्यों में अधिक मतभेद नहीं है। परमाणु या पुदगल कणों में जिस अनन्तशक्ति का निर्देश जैन आचार्यों ने किया था वह अब आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों से सिद्ध हो रही है। आधुनिक वैज्ञानिक इस

तथ्य को सिद्ध कर चुके हैं कि एक परमाणु का विस्फोट भी कितनी अधिक शक्ति का सृजन कर सकता है। वैसे भी भौतिक पिण्ड या पुद्गल की अवधारणा ऐसी है जिस पर वैज्ञानिकों एवं जैन विचारकों में कोई अधिक मतभेद नहीं देखा जाता। परमाणुओं के द्वारा स्कन्ध (Molecule) की रचना का जैन सिद्धान्त कितना वैज्ञानिक है, इसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। विज्ञान जिसे परमाणु कहता था, वह अब टूट चुका है। वास्तविकता तो यह है कि विज्ञान ने जिसे परमाणु मान लिया था, वह परमाणु था ही नहीं, वह तो स्कन्ध ही था। क्योंकि जैनों की परमाणु की परिभाषा यह है कि जिसका विभाजन नहीं हो सके, ऐसा भौतिक तत्त्व परमाणु है। इस प्रकार आज हम देखते हैं कि विज्ञान का तथाकथित परमाणु खण्डित हो चुका है। जबकि जैन-दर्शन का परमाणु अभी वैज्ञानिकों की पकड़ में आ ही नहीं पाया है। वस्तुतः जैन दर्शन में जिसे परमाणु कहा जाता है उसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने क्वार्क नाम दिया है और वे आज भी उसकी खोज में लगे हुए हैं। समकालीन भौतिकी-विदों की क्वार्क की परिभाषा यह है कि जो विश्व का सरलतम और अन्तिम घटक है, वही क्वार्क है। आज भी क्वार्क को व्याख्यायित करने में वैज्ञानिक सफल नहीं हो पाये हैं।

आधुनिक विज्ञान प्राचीन अवधारणाओं को सम्पुष्ट करने में किस प्रकार सहायक हुआ है कि उसका एक उदाहरण यह है कि जैन तत्त्व मीमांसा में एक ओर यह अवधारणा रही है कि एक पुद्गल परमाणु जितनी जगह घेरता है -- वह एक आकाश प्रदेश कहलाता है -- दूसरे शब्दों में मान्यता यह है कि एक आकाश प्रदेश में एक परमाणु ही रह सकता है। किन्तु दूसरी ओर आगमों में यह भी उल्लेख है कि एक आकाश प्रदेश में असंख्यात पुद्गल परमाणु समा सकते हैं। इस विरोधाभास का सीधा समाधान हमारे पास नहीं था। लेकिन विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व में कुछ ऐसे ठोस द्रव्य है जिनका एक वर्ग इंच का वजन लगभग 8 सौ टन होता है। इससे यह भी फलित होता है कि जिन्हें हम ठोस समझते हैं, वे वस्तुतः कितने पोले हैं। अतः सूक्ष्म अवगाहन शक्ति के कारण यह संभव है कि एक ही आकाश प्रदेश में अनन्त परमाणु भी समाहित हो जायें।

धर्म-द्रव्य एवं अधर्म-द्रव्य की जैन अवधारणा भी आज वैज्ञानिक सन्दर्भ में अपनी व्याख्याओं की अपेक्षाएँ रखती हैं। जैन परम्परा में धर्मास्तिकाय को न केवल एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है, अपितु धर्मास्तिकाय के अभाव में जड़ व चेतन, किसी की भी गति संभव नहीं होगी-- ऐसा भी माना गया है। यद्यपि जैन दर्शन में धर्मास्तिकाय को अमूर्त द्रव्य कहा गया है, किन्तु अमूर्त होते हुए भी यह विश्व का महत्त्वपूर्ण घटक है। यदि विश्व में धर्म द्रव्य एवं अधर्म द्रव्य, जिन्हें दूसरे शब्दों में हम गति व स्थिति के नियामक तत्त्व कह सकते हैं, न होंगे तो विश्व का अस्तित्व ही सम्भव नहीं होगा। क्योंकि जहाँ अधर्म-द्रव्य विश्व की वस्तुओं की स्थिति को सम्भव बनाता है और पुद्गल पिण्डों को अनन्त आकाश में बिखरने से रोकता है, वही धर्म-द्रव्य उनकी गति को सम्भव बनाता है। गति एवं स्थति यही विश्व व्यवस्था का मूल आधार है।

यदि विश्व में गति एवं स्थिति संभव न हो, तो विश्व नहीं हो सकता है। गति के नियमन के लिये स्थिति एवं स्थिति की जड़ता को तोड़ने के लिए गति आवश्यक है। यद्यपि जड़ व चेतन में

स्वयं गति करने एवं स्थित रहने की क्षमता है, किन्तु उनकी यह क्षमता कार्य के रूप में तभी परिणत होगी जब विश्व में गति और स्थिति के नियामक तत्त्व या कोई माध्यम हो। जैन दर्शन के धर्म द्रव्य व अधर्म द्रव्य को आज विज्ञान के भाषा में ईथर एवं गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के नाम से भी जाना जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि धर्म द्रव्य नाम की वस्तु है तो उसके अस्तित्व को कैसे जाना जायेगा ? वैज्ञानिकों ने जो ईथर की कल्पना की है उसे हम जैन धर्म की भाषा में धर्मद्रव्य कहते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार ईथर को स्वीकार नहीं करते हैं, तो प्रश्न उठता है कि प्रकाश किरणों के यात्रा का माध्यम क्या है ? यदि प्रकाश किरणें यथार्थ में किरण है तो उनका परावर्तन किसी माध्यम से ही सम्भव होगा और जिसमें ये प्रकाश किरणें परावर्तित होती हैं, वह भौतिक पिण्ड नहीं, अपितु ईथर ही है। यदि मात्र आकाश हो, किन्तु ईथर न हो तो कोई गति सम्भव नहीं होगी। किसी भी प्रकार की गति के लिए कोई न कोई माध्यम आवश्यक है। जैसे मछली को तैरने के लिए जल। इसी गति के माध्यम को विज्ञान ईथर और जैन-दर्शन धर्म द्रव्य कहता है।

साथ ही हम यह भी देखते हैं कि विश्व में केवल गति ही नहीं है, अपितु स्थिति भी है। जिस प्रकार गति का नियामक तत्त्व आवश्यक है, उसी प्रकार से स्थिति का भी नियामक तत्त्व आवश्यक है। विज्ञान इसे गुरुत्वाकर्षण के नाम से जानता है, जैन दर्शन उसे ही अधर्म द्रव्य कहता है। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में अधर्म द्रव्य को विश्व की स्थिति के लिए आवश्यक माना गया है यदि अधर्म द्रव्य न हो और केवल अनन्त आकाश और गति ही हो तो समस्त पुद्गल पिण्ड अनन्त आकाश में छितर जायेंगे और विश्व व्यवस्था समाप्त हो जायेगी। अधर्म द्रव्य एक नियामक शक्ति है जो एक स्थिर विश्व के लिए आवश्यक है। इसके अभाव में एक ऐसी अव्यवस्था होगी कि विश्व विश्व ही न रह जायेगा। आज जो आकाशीय पिण्ड अपने-अपने यात्रा पथ में अवस्थित रहते है - जैनों के अनुसार उसका कारण अधर्म-द्रव्य है, तो विज्ञान के अनुसार उसका कारण गुरुत्वाकर्षण है।

इसी प्रकार आकाश की सत्ता भी स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि आकाश के अभाव में अन्य द्रव्य किसमें रहेंगे, जैनों के अनुसार आकाश मात्र एक शून्यता नहीं, अपितु वास्तविकता है। क्योंकि लोक आकाश में ही अवस्थित है। अतः जैनाचार्यों ने आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे दो भागों की कल्पना की। लोक जिसमें अवस्थित है वही लोकाकाश है।

इसी अनन्त आकाश के एक भाग विशेष अर्थात् लोकाकाश में अवस्थित होने के कारण लोक को सीमित कहा जाता है, किन्तु उसकी यह सीमितता आकाश की अनन्तता की अपेक्षा से ही है। वैसे जैन आचार्यों ने लोक का परिमाण 14 राजू माना है। जो कि वैज्ञानिकों के प्रकाशवर्ष के समान एक प्रकार का माप विशेष है। यह लोक नीचे चौड़ा, मध्य में पतला पुनः ऊपरी भाग के मध्य में चौड़ा व अन्त में पतला है। इसके आकार की तुलना कमर पर हाथ रखे खड़े हुए पुरुष के आकार से की जाती है। इस लोक के अधोभाग में सात नरकों की अवस्थिति मानी गयी है -- प्रथम नरक से ऊपर और मध्य लोक से नीचे बीच में भवनपति देवों के आवास है। इस लोक के मध्य भाग में मनुष्य एवं तिर्यंचों का आवास है। इसे मध्य लोक या

तिर्यक्-लोक कहते हैं। तिर्यक्-लोक के मध्य में मेरु पर्वत है, उसके आस-पास का समुद्र पर्यंत भू-भाग जम्बूद्वीप के नाम से जाना जाता है। यह गोलाकार है। उसे वलयाकार लवण समुद्र घेरे हुए हैं। लवण समुद्र को वलयाकार में घेरे हुए घातकी खण्ड है। उसको वलयाकार में घेरे हुए कालोदधि नामक समुद्र है। उसको पुनः वलयाकार में घेरे हुए पुष्कर द्वीप है। उसके आगे पुनः वलयाकार में पुष्कर-समुद्र है। इनके पश्चात् अनुक्रम से एक के बाद एक वलयाकार में एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप एवं समुद्र हैं। ज्ञातव्य है कि हिन्दू परम्परा में मात्र सात द्वीपों एवं समुद्रों की कल्पना है, जिसकी जैन आगमों में आलोचना की गई है। किन्तु जहाँ तक मानव जाति का प्रश्न है, वह केवल जम्बूद्वीप, घातकी खण्ड और पुष्करावर्त द्वीप के अर्धभाग में ही उपलब्ध होती है। उसके आगे मानव जाति का अभाव है। इस मध्यलोक या भूलोक से ऊपर आकाश में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र व तारों के आवास या विमान है। यह क्षेत्र ज्योतिषिक देव क्षेत्र कहा जाता है। ये सभी सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तारे आदि मेरुपर्वत को केन्द्र बनाकर प्रदक्षिणा करते हैं। इस क्षेत्र के ऊपर श्वेताम्बर मान्यतानुसार क्रमशः 12 अथवा दिगम्बर मतानुसार 16 स्वर्ग या देवलोक हैं। उनके ऊपर क्रमशः ६ ग्रेवेयक और पाँच अनुत्तर विमान हैं। लोक के ऊपरी अन्तिम भाग को सिद्ध क्षेत्र या लोकाग्र कहते हैं, यहाँ सिद्धों या मुक्त आत्माओं का निवास है। यद्यपि सभी धर्म परम्पराओं में भूलोक के नीचे नरक या पाताल लोक और ऊपर स्वर्ग की कल्पना समान रूप से पायी जाती है, किन्तु उनकी संख्या आदि के प्रश्न पर विभिन्न परम्पराओं में मतभेद देखा जाता है। खगोल एवं भूगोल का जैनों का यह विवरण आधुनिक विज्ञान से कितना संगत अथवा असंगत है ? यह निष्कर्ष निकाल पाना सहज नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य श्री यशोदेव सूरि जी ने संग्रहणीरत्न-प्रकरण की भूमिका में विचार किया है। अतः इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार में न जाकर पाठकों को उसे आचार्य श्री की गुजराती भूमिका एवं हिन्दी व्याख्या में देख लेने की अनुशंसा करते हैं।

खगोल-भूगोल सम्बन्धी जैन अवधारणा का अन्य धर्मों की अवधारणाओं से एवं आधुनिक विज्ञान की अवधारणा से क्या सम्बन्ध है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में हमें दो प्रकार के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। जहाँ विभिन्न धर्मों में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि को देव के रूप में चित्रित किया गया है, वहीं आधुनिक विज्ञान में वे अनन्ताकाश में बिखरे हुए भौतिक पिण्ड ही हैं। धर्म उनमें देवत्व का आरोपण करता है, किन्तु विज्ञान उन्हें मात्र एक भौतिक संरचना मानता है। जैन दृष्टि में इन दोनों अवधारणाओं का एक समन्वय देखा जाता है। जैन विचारक यह मानते हैं कि जिन्हें हम सूर्य, चन्द्र आदि मानते हैं वह उनके विमानों से निकलने वाला प्रकाश है, ये विमान सूर्य, चन्द्र आदि देवों के आवासीय स्थल है, जिनमें उस नाम वाले देवगण निवास करते हैं।

इस प्रकार जैन विचारकों ने सूर्य-विमान, चन्द्र-विमान आदि को भौतिक संरचना के रूप में स्वीकार किया है और उन विमानों में निवास करने वालों को देव बताया। इसका फलित यह है कि जैन विचारक वैज्ञानिक दृष्टि तो रखते थे, किन्तु परम्परागत धार्मिक मान्यताओं को भी ठुकराना नहीं चाहते थे। इसीलिए उन्होने दोनों अवधारणाओं के बीच एक समन्वय करने का प्रयास किया है।

जैन ज्योतिषशास्त्र की विशेषता है कि वह भी वैज्ञानिकों के समान इस ब्रह्माण्ड में असंख्य सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र व तारागणों का अस्तित्व मानता है। उनकी मान्यता है कि जबूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं, लवण समुद्र में चार सूर्य व चार चन्द्रमा हैं। धातकी खण्ड में आठ सूर्य व आठ चन्द्रमा हैं। इस प्रकार प्रत्येक द्वीप व समुद्र में सूर्य व चन्द्रों की संख्या द्विगुणित होती जाती है।

जहाँ तक आधुनिक खगोल विज्ञान का प्रश्न है वह भी अनेक सूर्य व चन्द्र की अवधारणा को स्वीकार करता है। फिर भी सूर्य, चन्द्र आदि के क्रम एवं मार्ग, उनका आकार एवं उनकी पारस्परिक दूरी आदि के सम्बन्ध में आधुनिक खगोल–विज्ञान एवं जैन आगमिक मान्यताओं में स्पष्ट रूप से अन्तर देखा जाता है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र एवं तारा गण आदि की अवस्थिति सम्बन्धी मान्यताओं को लेकर भी जैन धर्म दर्शन व आधुनिक विज्ञान में मतैक्य नहीं है। जहाँ आधुनिक खगोल विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा पृथ्वी के अधिक निकट एवं सूर्य दूरी पर है, वहाँ जैन ज्योतिष शास्त्र में सूर्य को निकट व चन्द्रमा को दूर बताया गया है। जहाँ आधुनिक विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा का आकार सूर्य की अपेक्षा छोटा बताया गया वहाँ जैन परम्परा में सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा को बृहत् आकार माना गया है। इस प्रकार अवधारणागत दृष्टि से कुछ निकटता होकर भी दोनों में भिन्नता ही अधिक देखी जाती है।

जो स्थिति जैन खगोल एवं आधुनिक खगोल विज्ञान सम्बन्धी मान्यताओं में मतभेद की स्थिति है, वहीं स्थिति प्रायः जैन भूगोल और आधुनिक भूगोल की है। इस भूमण्डल पर मानव जाति के अस्तित्व की दृष्टि से ढाई द्वीपों की कल्पना की गयी है –– जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड और पुष्करार्ध। जैसा कि हमने पूर्व में बताया है जैन मान्यता के अनुसार मध्यलोक के मध्य में जम्बूद्वीप है, जो कि गोलाकार है, उसके आस–पास उससे द्विगुणित क्षेत्रफल वाला लवणसमुद्र है, फिर लवणसमुद्र से द्विगुणित क्षेत्रफल वाला वलयाकार धातकी खण्ड है। धातकी खण्ड के आगे पुनः क्षीरसमुद्र है जो क्षेत्रफल में जम्बूद्वीप से आठ गुणा बड़ा है उसके आगे पुनः वलयाकार में पुष्कर द्वीप है, जिसके आधे भाग में मनुष्यों का निवास है। इस प्रकार एक दूसरे से द्विगुणित क्षेत्रफल वाले असंख्य द्वीप–समुद्र वलयाकार में अवस्थित है। यदि हम जैन भूगोल की अढ़ाई द्वीप की इस कल्पना को आधुनिक भूगोल की दृष्टि से समझने का प्रयत्न करें तो हम कह सकते हैं कि आज भी स्थल रूप में एक से जुड़े हुए अफ्रीका, युरोप व एशिया, जो किसी समय एक दूसरे से सटे हुए थे, मिलकर जम्बूद्वीप की कल्पना को साकार करते है। ज्ञातव्य है कि किसी प्राचीन जमाने में पश्चिम में वर्तमान अफ्रीका और पूर्व में जावा, सुमात्रा एवं आस्ट्रेलिया आदि एशिया महाद्वीप से सटे हुए थे, जो गोलाकार महाद्वीप की रचना करते थे। यही गोलाकार महाद्वीप जम्बूद्वीप के नाम से जाना जाता था। उसके चारों ओर के समुद्र को घेरे हुए उत्तरी अमेरीका व दक्षिणी अमेरीका की स्थिति आती है। यदि हम पृथ्वी को सपाट मानकर इस अवधारणा पर विचार करें तो उत्तर–दक्षिण अमेरिका मिलकर इस जम्बूद्वीप को वलयकार रूप में घेरे हुए प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार आर्कटिका को हम पुष्करार्ध के रूप में कल्पित कर सकते हैं। इस प्रकार मोटे रूप से अढ़ाई द्वीप की जो कल्पना है, यह सिद्ध तो हो

जाती है, फिर भी जैनों ने जम्बूद्वीप आदि में जो ऐरावत, महाविदेह क्षेत्रों आदि की कल्पना की है वह आधुनिक भूगोल से अधिक संगत नहीं बैठती है। वास्तविकता यह है कि प्राचीन भूगोल जो जैन, बौद्ध व हिन्दुओं में लगभग समान रहा है, उसकी सामान्य निरीक्षणों के आधार पर ही कल्पना की गई थी, फिर भी उसे पूर्णतः असत्य नहीं कहा जा सकता।

आज हमें यह सिद्ध करना है कि विज्ञान धार्मिक आस्थाओं का संहारक नहीं पोषक भी हो सकता है। आज यह दायित्व उन वैज्ञानिकों का एवं उन धार्मिकों का है, जो विज्ञान व धर्म को परस्पर विरोधी मान बैठें हैं, उन्हें यह दिखाना होगा कि विज्ञान व धर्म एक दूसरे के संहारक नहीं, अपितु पोषक हैं। यह सत्य है कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र में कुछ ऐसी अवधारणाएँ हैं जो वैज्ञानिक ज्ञान के कारण ध्वस्त हो चुकी है, लेकिन इस सम्बन्ध में हमें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। प्रथम तो हमें यह निश्चित करना होगा कि धर्म का सम्बन्ध केवल मानवीय जीवन मूल्यों से है, खगोल के वे तथ्य जो आज वैज्ञानिक अवधारणा के विरोध में है, उनका धर्म व दर्शन से कोई सीधा संबंध नही है। अतः उनके अवैज्ञानिक सिद्ध होने पर भी धर्म अवैज्ञानिक सिद्ध नहीं होता। हमें यह ध्यान रखना होगा कि धर्म के नाम पर जो अनेक मान्यतायें आरोपित कर दी गयी हैं वे सब धर्म का अनिवार्य अंग नहीं है। अनेक तथ्य ऐसे हैं जो केवल लोक व्यवहार के कारण धर्म से जुड़ गये हैं।

आज उनके यथार्थ स्वरूप को समझने की आवश्यकता है। भरतक्षेत्र कितना लम्बा चौड़ा है, मेरु पर्वत की ऊंचाई क्या है ? सूर्य व चन्द्र की गति क्या है ? उनमें ऊपर कौन है आदि ? ऐसे अनेक प्रश्न है जिनका धर्म व साधना से कोई सम्बन्ध नहीं है। हम देखते हैं कि न केवल जैन परम्परा में अपितु बौद्ध व ब्राह्मण परम्परा में भी ये मान्यतायें समान रूप से प्रचलित रही हैं। एक तथ्य और हमें समझ लेना होगा वह यह कि तीर्थंकर या आप्त पुरुष केवल हमारे बंधन व मुक्ति के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं। वे मनुष्य की नैतिक कमियों को इंगित करके वह मार्ग बताते हैं जिससे नैतिक कमजोरियों पर या वासनामय जीवन पर विजय पायी जा सके। उनके उपदेशों का मुख्य संबंध व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास, सदाचार तथा सामाजिक जीवन में शान्ति व सहःअस्तित्व के मूल्यों पर बल देने के लिए होता है। अतः सर्वज्ञ के नाम पर कही जाने वाली सभी मान्यतायें सर्वज्ञप्रणीत है, ऐसा नहीं है। कालक्रम में ऐसी अनेक मान्यताएं आयी जिन्हें बाद में सर्वज्ञ प्रणीत कहा गया। जैन धर्म में खगोल व भूगोल की मान्यतायें भी किसी अंश में इसी प्रकार की है। पुनः विज्ञान कभी अपनी अंतिमता का दावा नहीं करता है अतः कल तक जो अवैज्ञानिक कहा जाता था, वह नवीन वैज्ञानिक खोजों से सत्य सिद्ध हो सकता है। आज न तो विज्ञान से भयभीत होने की आवश्यकता है और न उसे नकारने की। आवश्यकता है विज्ञान और अध्यात्म के रिश्ते के सही मूल्यांकन की।